IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

परम्परा, आधुनिकता और 21 वीं सदी

(अनुराग सिंह, अतिथि व्याख्याता, शासकीय महाविद्यालय देवसर)

जिला – सिंगरौली (म. प्र.)

अमूर्तः–

परम्परा वह अविच्छिन्न क्रम है जो सतत प्रवाहमान होती रहती है। वह कभी भी विकृत नहीं होती है। चाहे वह प्राचीन समाज हो या आधुनिक। परम्परा में समय के प्रवाह के साथ धीरे–धीरे जड़ता आने लगती है तो उसका प्रहाव अवरूद्ध हो जाता है, वह खण्डित हो जाती है। जिसे जड़ता का नाम दिया जाता है। डॉ. चंदा बैन ने तो परम्परा के विषय में शिव कुमार अग्रवाल की पुस्तक 'परम्परा का यात्रा रथ' की चर्चा करते हुए लिखा है कि –"परम्परा में संस्कृति के साथ अपसंस्कृति और प्रतिसंस्कृति भी शामिल है। .....परम्परा संस्कृति का रथ है।

आधुनिकता एक विचार है जिसमें परम्परा का परिमार्जन होता हैं। समाज जीवन में व्यस्त अपसंस्कृतियों और विकृतियों से मुक्ति के शंखनाद को आधुनिकता के दायरे में माना गया है। यह वैज्ञानिकता के गुणों से परिपूर्ण होती है। व्यष्टि से समष्टि की ओर पदार्पण की प्रक्रिया का नाम आधुनिकता है। इस प्रक्रिया में साहित्यकारों नें समाज में पांव पसारते अंधविश्वासों और नकारात्मकता से परे सकारात्मक सोच का विकास किया है। 19वीं सदी में मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ। परम्परा के नाम पर प्रवाहित जड़ता पर कुठाराघात किया गया। साहित्य, समाज और राजनीति सभी जगह नवीन विमर्शों का दौर चला।

19वीं सदी में मूल्यों की प्रतिष्ठा का जो दौर चला वह 21वीं सदी आते – आते मूल्यहीनता में परिवर्तित होने लगी। एक तरफ जहां हम गुणवत्ता की बात करतें हैं वहीं दूसरी ओर समाज में आए नैतिक पतन पर भी विचार का दौर चला। मानव की इस मूल्यहीनता नें परिवार और समाज को विखराव के द्वार पर खड़ा कर दिया है। भूमण्डलीकरण के दौर में बढ़ते दायरे के साथ हमारी संकुचित सोच नें सब कुछ समेट दिया है। पारिवारिक और सामाजिक सामूहिकता विलोपित हो गयी। मानव अति बौद्धिकता के इस दौर में तर्कसंगतता और प्रामाणिकता के चक्कर में परम्परा से हटकर एक नई पहचान बनाने के प्रयास में लगा हुआ है।

बीज शब्दः– परम्परा, आधुनिकता, इक्कीसवीं सदी।

प्रभाकर श्रोत्रिय की पुस्तक 'कविता की तीसरी आंख' में उद्धृत मुक्तिबोध के कथन- "पुरानी परम्परा कभी छूटती नहीं है, वह परंपरा ही मेरी है और उसका प्रसार अवश्य होना चाहिए। परम्परा से विच्छिन्न होकर अपने आपको आधुनिक समझने का भ्रम व्यक्ति, समाज और साहित्य को अपरिचित चीजों के हवाले कर देता है और यह विवेक लगभग खत्म हो जाता है कि हम जो कुछ अपना रहे है उसकी जड़े कहीं और तो नहीं हैं" से बात की शुरुआत करे तो परम्परा वह अविच्छिन्न क्रम है जो सतत प्रवाहमान होती है। वह कभी भी विकृत नहीं होती है। चाहे वह प्राचीन समाज हो या आधुनिक । कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु वहीं है सिर्फ विधान बदल गया है तौर तरीके बदल गये हैं। कार्यात्मक रूप में देखा जाये तो वैश्वीकरण की विशालता में सागर में बूंद की तरह हम सिमटते चले जा रहे हैं। भावनात्मकता की दृष्टि में वर्तमान समय में परिवार, समाज और राष्ट्रीयता सब कुछ संकुचित होते चले जा रहे हैं। एक ओर जहां हम वैभव सम्पन्न हुए हैं वहीं दूसरी ओर अनैतिक और पाशविक होते जा रहे हैं। परम्परा का प्राचीन अविच्छिन्न क्रम आज विच्छिन्न होने लगा है। सांस्कृतिक प्रवाह अवरूद्ध हो गया है। नित नूतनता की स्थापना के चक्कर में किधर जा रहे हैं हम स्वयं नहीं जानते हैं। परम्परा जब जड़ होती है तो उसका प्रवाह अवरूद्ध हो जाता है वह खण्डित हो जाती है जिसे हम जड़ता का नाम दे सकते हैं। पं० नेहरू ने भी परम्परा को संस्कृति की प्रवाहमान परिर्वतनशील प्रक्रिया माना है।

"बाहर से अचल दिखने वाली परम्परा भी यदि जडता और मृत्यु का पूरा शिकार नहीं बन गयी तो धीरे धीरे वह भी परिवर्तित हो जाती है।"[1]

इस बात का प्रमाणीकरण आगे चलकर संवादहीनता के विरूद्ध रचना का धर्म में डॉ० चन्दा बैन ने परम्परा के विषय में शिवकुमार अग्रवाल की पुस्तक 'परम्परा का यात्रा रथ की चर्चा करते हुए लिखा है कि "परम्परा हमें विरासत में मिलती है। परम्परा शब्द संस्कृति का समानार्थी है। संस्कृति भी हमें विरासत में मिलती है। परम्परा शब्द व्याप्ति विस्तार में संस्कृति से कुछ ज्यादा परिधि वाला है। परम्परा में संस्कृति के साथ अपसंस्कृति और प्रतिसंस्कृति भी शामिल है। परंतु फिर भी परम्परा और संस्कृति को व्यक्तिवाची मान लेने का चलन है। परम्परा संस्कृति का रथ है।" [2]

सभ्यता एवं संस्कृति के विकास क्रम के प्रारंभिक चरण में अपसंस्कृतियां देखने को नहीं मिलती है। उधर आधुनिक समाज में साहित्य, समाज और राजनीति सभी जगह विमर्शों के नाम पर परम्परा को जमकर कोसा जा रहा है। लेकिन इस प्रकार के कदाचरण वैदिक और उपनिषिदिक काल में देखने को नहीं मिलते हैं। उदाहरण के लिए स्त्री को वेदाध्ययन का अधिकार न देने की बात हो या फिर वैदिक बातों को सुन लेने पर शूद्रों के कान में रागा डाल देने की बात हो परम्परा और प्रथा को एक सांचे में तौलने की यह बात दोनों में अंतर न कर पाने के कारण है। कोई भी सामाजिक इनका पक्षधर नहीं हो सकता है।

समाज में प्रत्येक व्यक्ति को वैदिक वाणी से परिचित कराने की बात अथर्ववेद में ऋषि कश्यप ने इस प्रकार की है-

"ददामि इति ब्रूयात् अथ चैनम् अमुत्सत् ।

बसा आर्षेभ्यो याचदम्यो साप्रजावत् अपत्यवत्" ।। [3]

सामाजिक सद्भावना, मैत्रीभाव, सदाचरण और राष्ट्रप्रेम हमारी प्राचीन परम्परा का द्योतक है। परिवार और समाज के स्वरूप को स्वस्थ बनाये रखने के लिए इनकी महती आवश्यकता है। प्राचीन काल में इन बातों का प्रमाणीकरण मनीषियों ने "बसुधैव कुटुम्बकम्' और पुत्रोऽहम् पृथिव्याः के रूप में किया है। ये बोध वाक्य हमारे अंदर भावनात्मकता का संचार करते हैं। लेकिन वर्तमान की धृतराष्ट्री सोच ने इन सब पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। इस अर्थ प्रधान युग में अपनत्व का नामोनिशान नहीं है। वैसे भी अर्थ में भावनात्मकता का कोई स्थान नहीं होता है। वैदिक ऋषि अथर्वा ने पारिवारिक सामंजस्य की बात करते हुए अथर्ववेद में कहा है कि पुत्र पिता के धर्म का अनुसरण करने वाला, माता के साथ मानसिक एवं भावनात्मक समानता वाला एवं पत्नी के साथ मधुमती व्यवहार वाला होना चाहिए।

"अनुबतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना।

जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम् ।। [4]

हमारा प्राचीन समाज बालविवाही नहीं था। समाज में स्वयंवर की प्रथा थी। विवाह को एक पवित्र बंधन माना जाता था इसको तोड़ने वाला चाहे स्त्री हो या पुरुष दोषी माना जाता था। लेकिन वर्तमान समय में एक जन्म नही सात जन्म नहीं जन्म जन्म की यह स्वयंबर प्रथा कब विच्छिन्न हो जाय इसका कोई पता नहीं है। वर्तमान सोच में व्यापक बदलाव आया है रिश्ते यात्रिक हो गये हैं तभी तो स्त्री को लोग खरीदी हुई कार मानने लगे हैं। 21 वीं सदी की यह आधुनिक सोच परिवार को तोड़ेगी या जोड़ेगी समझ से परे है। 21 वीं सदी का परिवार किधर जा रहा है इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। "मातु पिता गुरु नावहि माथा' की परम्परा हेलो डैड और हाय मॉम में परिवर्तित हो गई है। कहने का तात्पर्य है कि भावनात्मकता का सर्वथा लोप हो गया है। भावनात्मक और आत्मिक रिश्ते औपचारिक हो गये हैं। माता पिता की सेवा के बजाय विषम परिस्थितियों में उन्हें वृद्धाश्रमों की ओर धकेलने की पश्चिमी सोच का अनुकरण करने लगे हैं।

भारतीय प्रारंभिक इतिहास में नारी और पुरूष समान रूप से प्रत्येक कार्य में सहभागी होकर चलते थे। कालान्तर में तथाकथित स्वार्थी सोच के लोगों ने नारी को शिक्षा से अनधिकारिणी धारणा को प्रचारित और प्रसारित किया। लेकिन वैदिक समाज इसकी इजाजत नहीं देता है। वहां समाज में नारी को पुरूषों के समान ही अधिकार प्राप्त थे। गृहकार्य से लेकर देवाराधन तक प्रत्येक जगह वह सहधर्मिणी की भूमिका निभाती थी।

"भारतीय पृष्ठ भूमि में वैदिक काल में महिला का समाज में विशिष्ट स्थान था तथा पुत्री, पत्नी एवं माता के रूप में महिला की स्थिति सम्मानजनक थी। वह शिक्षा प्राप्ति, सार्वजनिक कार्यों एवं धार्मिक अनुष्ठानों में बराबर की भागीदारी थी। अर्द्धनारीश्वर की कल्पना उसके समान अधिकारों की ही पुष्टि करती है। परंतु उत्तरवैदिक काल से ही नारी की सम्मानीय पात्रता में हास के चिन्ह प्राप्त होते है |"[5]

कालान्तर में नारीवादी यह स्वस्थ दृष्टिकोण कलकित हो गया। परम्पराएं अपसस्कृति का शिकार हो गई। रूढ़ियों और कुप्रथाओं का जन्म समाज जीवन में व्याप्त होने लगा। नारी के प्रति लोगों का नजरिया बदल गया। उसके प्रति पितृ सत्तात्मक समाज अनेक प्रकार की घोषणाएं करने लगा। मध्यकाल में नारी को कठिन मानदण्डों में जकड़ा जाने लगा। जो नारी सड़क पर सीना तान कर चले उसे हरम खानों और वैश्यालयों में भेज दिया जाय। इस प्रकार के आदेश सत्ताधीशों ने प्रसारित किया जो नारी जीवन के लिए बिडम्वना का दौर रहा। जो भारतीय अतीत पर एक बदनुमा दाग था। जिसका दंश आज भी नारी झेल रही है। सती प्रथा बालविवाह, बहु पत्नी प्रथा, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा जैसे नारी विरोधी स्वर हमारी परम्परा में नहीं थे। यह परम्परा के प्रवाह में आई विकृति है। उ० प्र० और हरियाणा में तो नारी के प्रति घृणित सोच रखने के कारण कन्या को जन्म लेते ही मार दिये जाने की प्रथा भी प्रचलित थी। इस प्रकार प्रथाओं और परम्पराओं में फर्क किये बिना परम्पराओं को कोसने की परम्परा साहित्य जगत के लिए नासमझी का ही परिणाम है।

"21 वीं सदी का समाज यह कल्पना नहीं कर सकता कि वैदिक युग में नारी का कितना सम्मान था आज तो हर रोज समाचार पत्र हत्या, जिन्दा जलाकर, पीट-पीट कर आत्महत्या के लिए मजबूर बलात्कार, दहेज, घरेलू हिंसा और बाजारवाद जैसी अनेक दानवी वृत्तियों से भरा रहता है।"[6]

वर्तमान समय की ओर निगाह दौड़ाएं तो नारी शोषण के तरीके बदल गये हैं। पहले उसे जन्म लेने के बाद मार दिया जाता था और अब प्रक्रिया प्रारंभ होते ही मार दिया जाता है। विडम्बना यह है कि नारी शोषण के पीछे स्वयं नारी का चेहरा ही छिपा है। नारी के अवमूल्यन में नारी का ही हाथ है। दूरदर्शन के माध्यम से प्रसारित "कभी सास कभी बहू' धारावाहिक समाज में व्याप्त नारी की दशा का सजीव चित्रांकन है। इन धारावाहिकों में जो चरित्र दिखाए जा रहे हैं उनमें नारी नारी के ही शोषण का शिकार है। भाजपा की स्टार नेत्री सुश्री उमा भारती ने एक सभा में कहा था कि 'नारी की सबसे दुश्मन नारी है'।

" जब तक नारी स्वयं नारी की शोषक बनकर अपने ही आड़े आती रहेगी उसका शोषण बंद नहीं होगा।"[7]

प्रागैतिहासिक काल की समता मूलक सोच का वैदिक काल के बाद तिरोहण होने लगा। सामाजिक मान्यताएं दुर्भावना का शिकार होने लगी। समाज में सामाजिक मान्यताओं का शिकार सबसे ज्यादा महिलाएं ही हुई। इतिहास में मध्यकाल नारी जीवन के लिए काला अध्याय के रूप में माना जा सकता है। इस दौर में स्त्री होना एक प्रकार से अभिशाप था। कहानीकार ए असफल ने अपनी कहानी 'इच्छामृत्यु' में इसी प्रकार का रोंगटे खड़े कर देने वाला दृश्य प्रस्तुत कर दिया है।

"अरुणा कॉपती हुई सरदार की ओर खिसक गई, दिल और इंजन की गड़गड़ाहट के बीच उसने लरजते स्वर में कहा, "भाई साहब हम मुसीबत के मारे है। सुनकर सरदार का मन ऐसे मचल उठा जैसे सडक पर भागते मोटे ताजे मुर्ग को देखकर लालच आ जाता है और वही स्टीयरिंग घुमाकर उस पर टायर चढ़ा देता .....अपनी नुकीली मूछे उसने अरूणा की ओर घुमाई, दृढ़ता से कहा "देख हम मानने वाले नहीं..... अब तू रो या चिल्ला।"[8]

समय परिर्वतन शील है। वह एक जैसा हमेशा नहीं रहता है। परिस्थितियां भी बदल गई और सोचने के तरीके बदले। स्त्रियों के प्रति पुरूषों का नजरिया बदला। चहार दीवारी में -घूंघट की ओट में घुट-घुट कर मरने के लिए मजबूर महिलाएँ मुक्त गगन में सांस लेने लगी। स्त्रियों को चूल्हा चौका तक सीमित कर देने वाली सोच नरम हुई। परिणाम स्वरूप शिक्षा जगत में कदम रख महिलाएँ अपनी शक्ति प्रमाणित करने लगी। वे जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनी पहचान बनाने लगी।

"महिलाओं की साक्षरता में इजाफा इस बात का सबूत है कि समाज में पुरानी मानसिकता में बहुत तेजी से बदलाव आ रहा है। अब लड़कियों को महज घर की चहार दीवारी तक सीमित नहीं रखा जाता।"[9]

लेकिन मानसिकता में परिवर्तन होने तथा बुलंदियों को छूने के बाद भी स्त्रिया अपने आप को असुरक्षित अनुभव कर रही हैं। 21 वीं सदी में उनकी तस्वीर दोहरी मानसिकता का शिकार हुई हैं। साड़ी से टाप की यात्रा में आंगिक प्रदर्शन के सिवा कुछ भी नहीं है। वर्तमान में उसका यह स्वरूप ही उसकी दशा का मुख्य कारण है। वह देह स्वातंत्र्य को लेकर पुरूष के चंगुल से मुक्त होना चाहती है। एक तरफ जहां उनके पिछड़ेपन का प्रतिशत घटा है वहीं दूसरी तरफ वह अपराधों का शिकार भी हुई है। खेल के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाने वाली सानिया मिर्जा इस्लामी फतवों का शिकार भी हुई है। साथ ही अपराधों की शिकार स्त्रियां अपराधों को अंजाम देने में पीछे भी नहीं है। वहीं एक वर्ग महिलाओं का ऐसा भी है जो प्रत्येक जगह अपने प्रतिनिधित्व के साथ आबरू भी बचाना चाहता है इस प्रकार वर्तमान युग में स्त्री भ्रम के भंवर में फंसी सी हुई है। वह घर से दफ्तर तक प्रत्येक जगह छली जा रही है।

प्रसाद की लज्जा मर चुकी है महिलाओं का दूसरा वर्ग स्वार्थ सिद्धि के लिए देह व्यापार को अपना साधन बनाती जा रही है। वैभव संपन्नता की तलाश में अपने आप को समर्पित कर देने की महाभारत कालीन सोच की पुनरावृत्ति करने लगी है। यह इस सदी की विडम्बना है इस प्रकार की घटनाएं इतिहास में जब भी घटी हों इतिहास उन्नयन नहीं बल्कि अवनमन की ओर ही गया है। आज हम कहां जा रहे हैं। इसकी कल्पना समझ से परे है। कहानीकार रघुनंदन त्रिवेदी की कहानी 'पचास की उम्र इसका बयाँ इस प्रकार कर रही है-

"मैं कुछ भी देने को तैयार हूं। पिछले ऑफीसर मि० अवस्थी की तरह अगर आप वेतन में से प्रतिमाह कुछ हिस्सा चाहते हैं तो ठीक और अगर उनसे भी पिछले ऑफीसर की तरह कुछ पाना चाहे तो.....|[10]

वर्तमान जीवन परम्परा से हटकर चल रहा है। नारी के प्रति हमारी पारम्परिक सोच बदली, तो नारी जीवन अभिशप्त हो गया। शिक्षा के क्षेत्र की बात करें तो प्रारंभिक चरण में समाज के प्रत्येक वर्ग को शिक्षा के समान अधिकार थे। नर-नारी सभी को शिक्षा ग्रहण की स्वतंत्रता थी शिक्षा के क्षेत्र में लैंगिकता और जातीयता का प्रश्न नहीं था।

"नारी समाज को पुरूष की तरह उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था।"[11]

प्राचीन ग्रंथ अथर्ववेद में तो कश्यप ऋषि ने यहां तक घोषणा कर दी है कि जो भी वेद वाणी का दान नहीं करता या दान करने में विभेद करता है वह इन्द्र के कोप का भागी बनेगा। ऐसे अचेतन स्वयं नष्ट हो जायेंगे। ऋषि का यह वाक्य अथर्ववेदीय स्वस्थ समाज का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

"ये बसाया आदानाय वदन्ति परिरापयः ।

इन्द्रस्य मन्यवे जालमा आवृश्चन्ते अचित्यया ।।"[12]

शिक्षा की यह हमारी प्राचीन परम्परा है। जो भेद रहित है। लेकिन कालांतर में ऐसी प्रथाओं के प्रमाण मिलते हैं। जहां नारियों एवं शूद्रों को शिक्षा से वंचित कर दिया गया था। वर्तमान शिक्षा जहां एक ओर सामाजिक बदलाव का साधन सिद्ध हो रही है वहीं दूसरी ओर प्रत्येक वर्ग को नव जीवन दे रही है। लोगो को बेहतर शिक्षा देने के लिए नित्य नियम और अधिनियम बनाये जा रहे हैं। एक तरफ हम शिक्षित हो रहे हैं दूसरी तरफ व्यावसायिक शिक्षा की आर्थिक दृढता वाली सोच ने समाज को मूल्यहीन बना दिया है। हमारा नैतिक और चारित्रिक पतन हुआ है। आज हमारी सोच पूर्णतया आर्थिक हो गई है। परिणाम स्वरूप विद्यार्थियों में दुर्व्यसनो और अपराध वृत्तियों का जन्म हो रहा है। शिक्षक भी कर्मच्युत हो अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहा है। प्राचीन काल में गुरूकुलों में चलने वाली निःस्वार्थ व्यावहारिक और सैद्धांतिक शिक्षा प्रदान करने का क्रम स्वार्थ परता में बदल गया है। शिक्षकों का ध्यान अध्यापन कार्य की जगह बजट में अटक गया है। मध्यान्ह भोजन में बच्चों का भोजन ग्रहण करना, गणवेश की गुणवत्ता घटाना और साइकिल पर कमीशन खाने में शिक्षक अपनी साधना समर्पित कर रहा है। 21 वीं सदी में जहा एक और गुणवत्ता की बात हो रही है वहीं दूसरी ओर नैतिक पतन चिन्तनीय विषय हो गया है।

विद्यालयों में यौन शिक्षा का दुष्प्रभाव और भी खतरनाक साबित हो रहा है। आज रोज समाचारों और समाचार पत्रों में अपहरण और गैंग रेप की घटनाएं देखने को मिलती हैं। ये घटनाएं शिक्षा के पारम्परिक स्वस्थ प्रवाह को प्रभावित कर रही हैं।

"आज के बहुसंख्यक स्कूली बच्चे (विशेषतः पब्लिक स्कूल) अक्सर पोशीदा जीवन जीते है। शराब, सिगरेट पीना, हल्की मादक दवाएं लेना, गुपचुप सैर सपाटा करना, अचानक स्कूल से गायब हो जाना, साइबर कैफे में इन्टरनेट पर अश्लील साहित्य देखना, अनजान लोगो से गपशप करना, क्लब और बार आदि में जाने के लिए झूठ बोलना आदि सामान्य व्यवहार हो रहा है|"[13]

वर्तमान में मूल्य आधारित शिक्षा के अभाव में सारी चीजें देखने को मिल रही हैं। यही नहीं सरकार भी 16 वर्ष की उम्र की लड़की से बाल अपराध को रोकने के लिये स्वैच्छिक यौन संबंध स्थापित करने की वकालत करने लगी है। जो इस सदी की बहुत बडी बिडम्बना है। मानव की इस मूल्यहीनता ने परिवार और समाज को विखराव के द्वार पर खड़ा कर दिया है। भूमण्डलीकरण के दौर में जहां एक ओर दायरा बढ़ा है वही दूसरी ओर वह अपनी धृतराष्ट्री सोच के कारण सिमटता चला जा रहा है। पारिवारिक और सामाजिक सामूहिकता विलोपित हो गई है। इस देश में उत्सवों और त्यौहारों की एक लंबी परम्परा रही है। रंगों की दुनिया सहज ही मानव मन को उत्साह और उमंग से भर देती है। देश के विभिन्न कोनों में उसका स्वरूप अलग होने के बावजूद भी तत्व उनमें एक ही रहा है। और वह है मानव मन को प्रमुदित और प्रफुल्लित करने का।

गीतों की प्राचीन परम्परा में समाहित भारतीय जीवन विशेष अवसरों पर जीवंत हो उठता था।

"बसत का उत्सव भी अंचलों में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इस उत्सव का उत्साह फीका भी नहीं होता कि प्रारंभ होता है, फागुन का महीना। फागुन मास और होली की प्राचीन परम्पराएं पीढ़ी दर पीढी जीवित है।"[14]

लेकिन रिमिक्स प्रथा ने वर्तमान समय में हमारे पारम्परिक गीतो रक्बेसनों सदी में ऐसा रंग भरा है कि समूची भावनात्कता तिरोहित हो गई है। ईक्कीसवीं सदी के इस दौर में कहीं नहीं सुनाई देती ढोलक की थाप कहीं नहीं सुनाई देती आत्मीयता और उत्साह का वह स्वर। इस पॉप संगीत ने सारे सुरों को बेसुरा कर दिया है। ऐसे अवसरों पर अब दिखती है शराब की मादकता, दंगा और पारस्परिक कलह । फागुन मास में विरहिणी का गीतात्मक आत्मालाप अब सुनने को नही मिलता क्योकि गलियों कूचों में लावारिस विचरण करने लगा है प्रेम।

"घरी कई से करेजवा मे धीर

पिया पर देश निकल गए,

जबहिं पिया परदेश निकल गए

तबहीं आयी बैरिन होरी

ठाढे ननदोई मोरे अरज करत

खेलो दुलहिनिया मोरे संग होरी,

बतिया केहुके मोहे न भावे

सखि धरूँ कई से जिया धीर।"[15]

इस प्रकार वर्तमान सोच ने हमारे जीवन की सम्भाव्य सम्भावनाओं पर विराम लगा दिया है। साहित्यकार और समाजसेवी इस मूल्यहीनता को लेकर जितना आज चिंतित नजर आ रहा है उतना अतीत में भी नहीं था। आज विज्ञापनों के माध्यम से व्रतों और त्यौहारों की खिल्लिया उड़ाई जा रही हैं। इनको अवैज्ञानिक कहने की प्रथा चल पड़ी है।

"करवा चौथ के व्रत में चुपके से मुस्कुराते हुए चाकलेट खाती हुई महिला का दिखाया जाना, प्रकारान्तर से संस्कृति पर प्रहार ही है। यह प्रदर्शन संदेश देता है कि चाकलेट सुविधा जनक है, प्रेस्टेज से जुडा है इसे खाने वाला उच्च वर्ग का है।"[16]

मानव अति बौद्धिकता के इस दौर में तर्कसंगतता और प्रामाणिकता के चक्कर में परम्परा से हटकर एक नई पहचान बनाने के प्रयास में लगा हुआ है। साहित्य के क्षेत्र में देखे तो मुखरित कबीर, निराला, महादेवी, नागार्जुन आदि कवियों ने विरोध के स्वर मुखारित किये हैं। लेकिन किससे परम्परा से या फिर सामाजिक जड़ताओं से। संस्कृत से हिन्दी की यात्रा भी कुछ इसी प्रकार है। आजकल, हम कोदो , कुटकी, दलिया से चलकर मैगी, चाउमीन और पिज्जा तक आ गये हैं। ईक्कीसवीं सदी की यह चाउमीनी संस्कृति अचर आधुनिक सोच ने हमें उस मोड पर लाकर खड़ा कर दिया है कि हम पुनः पारम्परिक खाद्य पदार्थों की ओर टकटकी लगाये देख रहे हैं। कुप्रथाएं मिट जाती है और परम्परा चक्रीय क्रम में अनवरत चलती रहती है।

"यह सोचना गलत होगा कि परम्परा को स्वीकार करने वाले लोग संकुचित और यथास्थिति वादी हैं। परम्परा का निषेध करने की अपेक्षा उसकी गतिशीलता को अधिक खुलेपन से स्वीकार करना सही लोक दृष्टि है।"[17]

हमारी वर्तमान सोच बाजारू हो गई है। गांव भावनात्मक रूप में शहर होते जा रहे हैं। रोटी, कपड़ा और मकान की प्राथमिकता सोच ने इंसानियत को निगलना शुरू कर दिया है। पंत का 'लहलह पालक महमह धनिया' वाला प्राचीन ग्राम्य जीवन लुप्त होता चला जा रहा है। परस्पर सामाजिक सौहार्द तिरोहित हो गए हैं। ग्राम्य जीवन नैतिक पतन और चारित्रिक पतन के पर्याय बनते जा रहे हैं। कोयल की सुरीली तान की जगह मोटर गाड़ियों की आवाज कान के पर्दा को फाड़ रही है। एक तरफ आर्थिक उन्नयन है तो दूसरी ओर नैतिक पतन। 21 वीं सदी का गांव कालिदास के निर्व्याज प्रेम के लिए छटपटा रहा है।

"गांव में बुझ गये है अब / चौपालों पर देर तक जलते अलाव / राख के ढेर के नीचे/सदियों से पड़ी दबी चिनगारियाँ कसमसाती है। ठीक ऐसे ही दबाये हुए प्रेम की आच को/नफरत की आंच में कसमसाता है प्रेम" [18]

राजनैतिक परिदृश्य की बात करें तो राजा का राज जनता के राज में परिवर्तित हो गया है। इतिहास में ऐसे भी राजा हुए हैं जिन्होंने पिता के आदेश पर राज्य का परित्याग कर दिया तथा प्रजा द्वारा दोषारोपण किये जाने पर परिवार का भी परित्याग कर दिया था। लेकिन वर्तमान कर्नाटक सरकार का हाल देखे तो नेता कुर्सी तक छोड़ने को तैयार नहीं है परिवार तो बहुत दूर की बात है। हमारे राजनेता मध्यकालीन

राजकुमारों की तरह राजत्व की ओट में छेडछाड की प्रवृत्ति से एक कदम आगे तंदूर और कबूतरबाजी तक जा पहुंचे हैं। नैतिक पतन तो यहां तक हो गया कि संसद में प्रश्न के बदले पैसे की माग होने लगी। प्राचीन राजनीति में योग्यता को वरीयता दी जाती थी वंशवाद को नहीं। राजा भरत इतिहास के पृष्ठ में इसके उदाहरण हैं लेकिन वर्तमान राजनीति नेहरू से राहुल तक वंशवाद का जीता जागता उदाहरण है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया में देश का प्रधानमंत्री भी धारा 420 और 120 बी के तहत दोषी सिद्ध किया जा चुका है। कहीं चारा, कहीं हवाला, कहीं खनन, कहीं खेल, कहीं स्पेकट्रम तो कही ताज न जाने कितने प्रकार के घोटाले हो रहे हैं। वर्तमान में संपूर्ण राजनैतिक प्रक्रिया अपराध के मैदान में कबायत कर रही है। मध्यकाली राजनीति के स्वर आज भी दिखाई दे रहे हैं। भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठाने वाले को रामलीला मैदान में अर्द्धरात्रि को बल प्रयोग कर उठवा लिया जाता है। जनता कोई आवाज उठाये उसके पहले कानून में परिर्वतन कर दिया जाता है। वर्तमान में बापू के तीनो बंदर राजा, सामंत और जमींदार के पर्याय हैं। प्रजा के राज में जिसके हाथ में सत्ता है वही सामंत है।

"अपराधी राजनीति में घुसकर राजनीति को गंदा नहीं कर रहे बल्कि अपराधीकरण का राजनीतिकरण हो गया है। भले और विचारवान व्यक्तियों ने राजनीति की ओर से मुंह फेर लिया है।"[19]

पंचायती राज व्यवस्था में जहां सबको समान अधिकार मिल रहा है। सदियों से उपेक्षित महिलाएं और सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े लोग भी अपना प्रतिनिधित्व दर्शा रहे हैं। वर्तमान चुनाव प्रक्रिया में सत्ता में आने के लिए भाई-भाई और पिता-पुत्र के बीच संघर्ष की स्थिति निर्मित हो गई है। राजनैतिक लाभ लेकर शोषित भी शोषक होता जा रहा है। जन प्रतिनिधियों के पास रहने के लिए घर नहीं लेकिन लाखों की कार दरवाजे की शोभा बढ़ा रही है। पहले किसान साहूकार के यहां गिरवी होता था। आज सरकार के पास गिरवी है। कर्ज न दे पाने की दशा में यह आत्महत्याए करने को मजबूर है।

"प्रेमचन्द के गोदान का होरी बाजार की इस किसान खोस नीयत का जीता जागता व्यक्ति बिम्ब है। किसान का यह व्यक्तिबिम्ब सूदखोरी के चौखटे में अब भी ज्यों-का-त्यो फिट है।"[20]

राजनीति में जातीय आधार पर टिकटों का आवंटन जहां जातिवाद को बढ़ावा दे रहा है। वहीं भाई भतीजावाद, नक्सलवाद, माओवाद, आतंकवाद आदि जितने भी वाद हैं ये सब राजनीति के ही परिणाम है। जिनके हाथ आज लोकतंत्र की सर्वोच्च संस्था तक पहुंच चुके हैं। सत्य और अहिंसा को आधार बनाकर चलने वाली राजनीति हिंसात्मक होती जा रही है। आज नेता मृतक के पोस्टमार्टम की तरह बेरहमी से जनतंत्र को चीरा लगाकर सिलने का प्रयास कर रहे हैं। जब सीमा से बाहर होती राजनीति प्रजा को सीमा में रहने की बात दोहराती है तो उदय प्रकाश जी जैसे लोगों से रहा नहीं जाता है और वे कहते हैं –

"राज्यसत्ता

प्रजातंत्र का प्रजापति है

और प्रजा अगर तंत्र से टकराती है कभी

तो तंत्र की हिफाजत में तैनात बन्दूक की नाल से

बोलती है राज्यसत्ता

कि सुनो मेरी प्यारी प्यारी प्रजा

तुम्हे तंत्र के भीतर ही

प्रजा होने का हक है।" [21]

ऐतिहासिक पृष्ठ में सम्राट हर्षवर्धन वर्ष में एक दिन संपूर्ण राज्य कोष को प्रजा में लुटा देते थे। आज हमारे राजनेताओं ने संपत्ति के सार्वजनीकरण की प्रथा विकसित की है | पार्थ क्या है? इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यह जनता के बीच अपना प्रभुत्व स्थापित करने जैसा प्रतीत होता है। यह जनभावनाओं के साथ खिलवाड़ के अलावा कुछ भी नहीं है। हमारे नेता संपत्ति के सार्वजनीकरण में कर्जदार भी दिखाई देते हैं। इसके पीछे उनका भ्रष्टाचार मुक्त नजरिया है।

"असम के मुख्यमंत्री तरूण गोगोई का प्रसंग अभी पुराना नहीं हुआ है। जनवरी 2011 में उन्होने अपनी सम्पत्ति 54 लाख की बताई थी। फिर इसके दो ढाई महीने बाद ही चुनाव में खड़े होने के लिए संपत्ति की घोषणा की तो गोंगोई ने बताया कि उनके पास आठ करोड की सम्पत्ति है।"[22]

लेकिन दो महीने में 54 लाख से 8 करोड़ या फिर वर्तमान में धीरज साहू के घर नोट के तहखाने जैसे अनेक उदाहरण | इसके पीछे के प्रश्न का उत्तर क्या होगा? भ्रष्टाचार या उससे मुक्त। यह एक गम्भीर प्रश्न है। यह भारतीय परम्परा में नही था। सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया मध्यकाल की देन है। जिसकी पुनरावृत्ति करने मे वर्तमान राजनीति तनिक भी संकोच नहीं कर पा रही है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परम्परा और 21 वीं सदी की अधुनिक सोच क्रमशः दो ध्रुवों पर खड़ी है। परम्परा का विरोध कर अधुनिक कहलाना एक प्रकारका भ्रम है। इस विकसित नजरिये ने समाज के प्रत्येक वर्ग को लाभान्वित किया है। लोग अपने क आधिकारों के प्रति सजग हुए हैं। स्त्री और दलित भी विमर्श के दायरे में आ गये हैं। लेकिन जहा तक मानना है कि विमर्श और विद्रोह दोनों एक साथ नहीं चल सकते हैं। दलितों की देवी भी ब्राम्हणों से कंधे से कंधा मिलाकर चलने लगी है। विमर्श स्वस्थ मन से होना चाहिए। सिर्फ देह स्वातंत्रय स्त्री विमर्श नहीं हो सकता। जो लेखिकाएं ऐसा कर रही है वे समाज के साथ न्याय नाही कर पा रही है। अधिकारों का भवन दुर्भावना के नींव पर खड़ा नहीं किया जा सकता है। आधुनिकता की औपचारिक

सोच ने मानवीय संबंधों को तितर-बितर कर दिया है। परम्परा का स्वस्थ विकास तभी होता है जब उसे आधुनिकता रूपी खाद पानी से सींचा जाता है।

"काग का उचरना / सगुन मनाना / हो गया बहुत पुराना।

आया जबसे हैलो, हाय का नया जमाना।" [23]

आधुनिकता अतीत का परिमार्जन है। जिस पर मानव का वर्तमान और भविष्य टिका होता है। परम्परा की प्रासंगिकता को रंजना सक्सेना ने अपनी यादें कविता में कुछ इस प्रकार चित्रित किया है -

"अतीत की दीवार पर / ठुकी हुई खूंटियां टंगा होता है।

जहां कोई चरित्र / जो समय-समय पर / दिमाग पर रंदा मार मारकर /

सदैव तरोताजा रहता है/मन के कोने में | "[24]

अर्थात परम्परा को भुलाकर हम 21 वीं सदी में स्वस्थ भारत के भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि परम्परा अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है। संस्कारो की परम्परा, भोजन की परम्परा, परिधानों की परम्परा आदि का प्रवाह कभी न रूकने वाला प्रवाह है। अवरोध तो नदी के प्रवाह में होता है। लेकिन वह अपना पथ निर्माण कर लेती है। कुप्रथाओं, संस्कारों और रूढ़ियों का अवरोध पारम्परिक प्रवाह को अवरूद्ध नहीं कर सकता है। वह समयानुकूल अपना मार्ग निर्माण कर लेती है। सम्यक मार्ग निर्माण भी यह प्रक्रिया ही 21 वीं सदी के भारत को सुखद स्वरूप प्रदान कर सकती है। इसके बिना विकास असंभव है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिन्दी भाषा संरचना - म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी पृष्ठ -180
2. रचना - जनवरी-अप्रैल 2005 म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी पृष्ठ - 59
3. अथर्ववेद – काण्ड 12. अनुवाद 4. सूक्त 4. यंत्र 1 दयानंद संस्थान नई दिल्ली
4. अथर्ववेद - 3/30/2 - दयानंद संस्थान नई दिल्ली
5. रचना - सितम्बर-दिसम्बर 2008 म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी पृष्ठ - 26
6. वाग्धारा - जुलाई-दिसम्बर 2008 पृष्ठ - 65
7. रचना - सितम्बर-दिसम्बर 2008 पृष्ठ - 32
8. हंस - अगस्त 2011 पृष्ठ - 117
9. राज एक्सप्रेस, सतना, शुक्रवार 5 अगस्त 2011 पृष्ठ -10
10. हंस - अगस्त 2011 पृष्ठ - 117
11. वाग्धारा - जुलाई-दिसम्बर 2008 पृष्ठ- 66

12. अथर्ववेद – काण्ड 12. अनुवाद 4. सूक्त 4, यंत्र 52 दयानंद संस्थान नई दिल्ली
13. रचना - मई-अगस्त 2006, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी पृष्ठ - 36
14. 14 रचना - सितम्बर-दिसम्बर 2007 पृष्ठ - 80
15. रचना - सितम्बर-दिसम्बर 2007 पृष्ठ - 81
16. बदलते भारतीय सामाजिक संदर्भ सं. डॉ. प्रताप सिंह चंदेल 2009 पृष्ठ - 7
17. वाग्धारा - जुलाई-दिसम्बर 2008 पृष्ठ - 58
18. वागर्थ - जुलाई 2011 पृष्ठ - 102
19. बया - दिसम्बर 2007 पृष्ठ - 16
20. हिन्दी भाषा संरचना 2009 म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी पृष्ठ - 201
21. बया - दिसम्बर 2007 पृष्ठ - 33
22. राज एक्सप्रेस, शनिवार 11 जून 2011 पृष्ठ- 06
23. 23 आजकल - जनवरी 2006 पृष्ठ - 7
24. आजकल अक्टूबर 2009 पृष्ठ - 27